2

ख्वाबों के जहाज़

*शारदा कुमारी**

औपचारिक शिक्षा की छोटी मगर सबसे महत्वपूर्ण इकाई है विद्यालय। यह बच्चों को एक ऐसी जीवंत उर्वरा शक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से अपनी विद्यमानता को तर्कसंगत ठहराती है जो उन्हें अपनी नैसर्गिक क्षमताओं को पूरी तरह से प्रस्फुटित होने के निरंतर मौके देती रहे। इस कथन का मंतव्य तो यह हुआ कि विद्यालय सभी बच्चों के लिए असीम चाहत का स्थान बने। उनके मन की भीतरी तह तक उन्हें विद्यालय जाने के लिए उकसाती रहे और विद्यालय में दिन बिताने के बाद जब वे घर लौटें तो विद्यालय में दिन भर की धमाचौकड़ी उनको गुदगुदाती रहे। क्या ऐसा हो पा रहा है? अवलोकन और अनुभव इस कठोर सत्य को दर्ज करते हैं कि जब तक बच्चे विद्यालय नहीं जाते उनके भीतर तीव्र उत्कंठा समाई रहती है कि कब वे पाँच वर्ष के हों (औपचारिक प्राथमिक विद्यालय में प्रवेश की आयु) और कब वे विद्यालय जाएँ। विद्यालय का परिवेश किसी भी तिलस्म भरे माहौल से कम नहीं लगता। पर विद्यालय में प्रवेश के बाद चार-पाँच दिन के भीतर ही न जाने क्यों चाहतों का ज्वार एक दम शांत हो जाता है। चेहरे मुरझा जाते हैं, ऊर्जा शिथिल होकर कहीं अँधेरे कोने में दुबक जाती है। अब विद्यालय का तिलस्म रोमांच पैदा करने की जगह भयावह लगने लगता है। जो बच्चे खुशी-खुशी चले भी जाते हैं, वे विद्यालय में एक घंटा बिताने के बाद ही बुझे-बुझे नज़र आने लगते हैं। ऐसा लगता है कि कुछ सीखने के फेर में ज्ञान का कोई बहुत बड़ा-सा पहाड़ उनके मस्तिष्क पर रख दिया गया है और उसे सीखने का बोझ उन्हें ढोते रहना है। 'सीखना' अपने आप में बहुत ही खूबसूरत शब्द है। जब तक बच्चे विद्यालय विहीन दुनिया के इर्द-गिर्द रहते हैं वे अपनी तरह से नाना प्रकार की चीज़ें और कौशल सीखने में अपना सृजनात्मक श्रम लगाने के लिए उतावले रहते हैं पर ना जाने ऐसा क्या हो जाता है कि विद्यालय में आते ही सीखने के प्रति सभी बच्चों की चाहतों का जहाज़ समंदर के कहीं एक किनारे दुबक जाता है। वे बच्चे जो ज्ञान के समंदर में एक कुशल गोताखोर की तरह उत्साहित होकर डुबकियाँ लगाते हैं ना जाने क्यों विद्यालयी जीवन में आते ही अपने चातुर्य को संशय की नज़र से देखने लगते हैं और धीरे-धीरे किसी भी तरह के रोमांच के प्रति उदासीन हो जाते हैं। आखिर सीखने का रस कहाँ खो जाता है?

* *वरिष्ठ प्रवक्ता*, मंडल शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, आर.के.पुरम, नयी दिल्ली

0- + 2015.indd 14 5/26/2017 9:14:51 AM

क्या हम इस बात को मानते हैं कि बच्चों का जीवन चाहे वे विद्यालय के भीतर हों या बाहर, एक विशिष्ट तरह का जादुई महल है? हम अध्यापकों में से अधिकतर का प्रयत्न यह होता है कि हम जादुई महल के पहरेदार बन कर रहें।

हम कभी भी नहीं चाहते कि बच्चों के मन रूपी जादुई महल में बच्चे बन कर प्रवेश करें और टटोलें कि वहाँ क्या चल रहा है। हम तो बस पहरेदार बनकर यह देखना भर अपना कर्तव्य समझते हैं कि कहीं कुछ अवांछनीय न घटित हो जाए।

हमारा यह डर ही सीखने के रस को सुखा देता है। अक्सर विद्यालयों में यह देखकर बहुत दु:ख होता है कि कैसे अपने विषय का बहुत अच्छा ज्ञान रखने वाले शिक्षकों के लिए भी किसी विषय का सीखना-सिखाना घमासान भीषणकारी युद्ध में बदल जाता है और इसका कारण सिर्फ यह होता है कि ऐसे कोई तार नहीं होते जो शिक्षक के मन को विद्यार्थियों के मन से जोड़ते हों। वे विद्यार्थियों के मन की पिटारी को खोलने की जगह उस पर चुप्पी का ताला जड़ देते हैं और उसकी कुंजी उन सलाहतों की काँख में छिपा देते हैं जो बच्चों को बताती हैं कि सवाल पूछते रहना अच्छी बात नहीं है।

सीखने के संदर्भ में एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण है कि विद्यालयी जीवन के दिन किसी भी व्यक्ति के जीवन में असाधारण महत्त्व रखते हैं, विशेषकर शुरूआती वर्ष । महान लेखक और शिक्षक लेव तोलस्तोय का यह कहना सोलह आने सच है कि जन्म से लेकर पाँच वर्ष की आयु तक बच्चे अपनी बुद्धि, अपनी भावनाओं, इच्छाबल और अपने चरित्र के लिए अपने चारों ओर की दुनिया से जितना कुछ ग्रहण करते हैं उतना पाँच वर्ष से लेकर अपने जीवन के अंत तक नहीं करते। यानुश कोर्चाक ने अपनी पुस्तक '*जब मैं फिर छोटा हो जाऊँगा*' में लिखा है, "कोई नहीं जानता कि बच्चा कब अधिक ज्ञान पाता है, जब ब्लैकबोर्ड की ओर देख रहा होता है, या तब, जब एक अदम्य शक्ति (यथा सूरजमुखी को घुमाने वाली सूर्य की शक्ति) उसे खिड़की के बाहर देखने को विवश करती है। ऐसे क्षण में उसके लिए क्या अधिक महत्वपूर्ण, अधिक लाभदायक है – ब्लैकबोर्ड के चौखटे में जड़ा तार्किक जगत या खिड़की के बाहर फैली दुनिया?"

प्रत्येक बालक के नैसर्गिक विकास के नियमों को ध्यान से देखिए, यह समझने की कोशिश कीजिए कि बच्चे की अपनी क्या खासियत है, किन बातों में उसका मन है और इसे देखते हुए उन्हें क्या चाहिए? यानुश कोर्चाक के इन शब्दों के मर्म को अगर हम समझ पा रहे हैं तो बच्चों के सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के संदर्भ में हमारी पहली समझ तो यह बननी चाहिए कि हमें बच्चों की जिज्ञासु अन्वेषक प्रकृति का हरण किसी भी कीमत पर नहीं करना है। अन्यथा यह काम तो उनका गला घोटने के समान होगा। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि बच्चे अपने चारों ओर के संसार को उसी सजीव रंगों में अपनी नज़रों से देखें। मन के तारों को झनझनाने वाली ध्वनियों को सुनें जो फूल-पत्तियों, पशु-पक्षियों ने उनके चारों ओर बिखेरी हैं, वे उस कोलाहल को भी सुनें जो मानवीय जीवन की देन है।

0- + 2015.indd 15 5/26/2017 9:14:51 AM

बच्चों और वयस्क की नज़र के फ़ासले को एक उदाहरण से समझने की कोशिश करते हैं। तीसरी कक्षा की गोविन्दी ने बड़े जतन से एक चित्र बनाया। चित्र किसी फलदार वृक्ष का था। यह जान नहीं पड़ रहा था कि किस फल का वृक्ष है। अध्यापिका अभी समझने का प्रयास कर ही रही थी कि किस फल का वृक्ष है कि गोविन्दी ने झपट कर कॉपी अध्यापिका के आगे से उठा ली। आँखों को गोल-गोल घुमाते हुए स्फूर्ति के साथ बोली, "मैम-मैम थोड़ा ठहरो, अभी कुछ रह गया है बनाना।" पलभर को गोविन्दी के चेहरे पर तनावपूर्ण खामोशी-सी छा जाती है पर क्षण भर में लुप्त भी हो जाती है। उसका समस्त चिंतन पेंसिल की नोक से चित्र पर अवतरित होने लगता है। माथे पर पसीने की बूँदें मोती-सी झिलमिला उठती हैं और अपने सृजनात्मक मन को सार्थक कर वह अध्यापिका के पास पुन:आकर अपना चित्र दिखाती है, "मैम! देखिए अब पूरी हुई है ये तस्वीर। ऐसी ही तो देखी थी मैंने घपलू के बाग में।"

अध्यापिका ने देखा कि इस बार फलदार वृक्ष के ऊपर कुछ आड़े-तिरछे तिकोने चौकोर बिंदु से उकेर दिए गए हैं। उन्होंने पूछा, "क्यों! ये तारे हैं क्या?" गोविन्दी ने समझाया, ये तारे नहीं, ये तो चिंगारियाँ हैं,जो चाँद से फूट रही हैं।"

अब समझने का प्रयास करें कि एक बच्चे की ही कल्पना इतनी सच्ची, सटीक और कलात्मक हो सकती है। क्या कभी किसी वयस्क ने चंद्रमा को चिंगारी बिखेरते देखा होगा?

यहाँ यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि हम वयस्कों ने क्या देखा और क्या नहीं देखा है, महत्त्व तो इस बात का है कि बच्चों की चेतना में साकार हुए रोमांचकारी चित्रों को हम स्वीकार करते हैं या नहीं।

अब यदि गोविन्दी की अध्यापिका ने विस्मय और विमुग्धता के साथ चंद्रमा की चिंगारियों को देखा होगा तब तो गोविन्दी में चित्रकारी करने और कुछ भी सीखते रहने की जिजीविषा बनी रहेगी वरना मंद होती-होती एक दिन सदा के लिए बुझ जाएगी।

आमतौर पर विद्यालयों में कला के सत्रों में यह पाया जाता है कि अध्यापक या तो श्यामपट्ट पर कोई चित्र बना देते हैं और फिर उसकी हुबहू नकल करने का आदेश देते हैं या फिर कुछ मानक चिह्नित कर देते हैं कि इन मानकों के भीतर ही चित्र बनाएँ। बच्चों के अनुभवों, देखे गए बिंबों का यहाँ कोई भी स्थान नहीं होता। ऐसी चित्रकारी की कक्षा भला किसे लुभाएगी? संगीत की कक्षा भी इसी नीरसता की गवाह बनती है। पर जिस तरह से संगीत की कक्षाएँ आयोजित की जाती हैं वे किसी तरह के 'सीखने' के प्रति वितृष्णा ही पैदा करती हैं। शारीरिक शिक्षा के सत्रों का तो हाल और भी बुरा होता है। अनुशासन के नाम पर अध्यापक की आवाज़ जिस तरह से डरावने अंदाज़ में आदेश संचारित करती है वह रूह कँपकँपा देने से कम नहीं होती। "यहाँ चलो, ऐसे चलो, थम जाओ, अब इधर घूमो, उसे छुओ, तेज़ी से दौड़ो, इतनी मरी चाल से क्यों चल रहे हो? सुबह भूखे ही उठकर आए क्या?'' तमाम ऐसे जुमले हैं जो शारीरिक शिक्षा के सत्र में गुँजाएमान होते रहते हैं। कहाँ से फूटेगा सीखने के रस का स्रोत?

कहानियों के सत्र में भी विनाशकारी संवाद सीखने की प्रक्रिया में बाधक बन जाते हैं। अक्सर

0- + 2015.indd 16 5/26/2017 9:14:51 AM

कहानियाँ ऐसी चुनी जाती हैं जो नैतिक मूल्यों के भार से दबी होती हैं और चरित्रों को रूढ़िबद्ध स्वरूप में प्रस्तुत करती हैं। कथा-कहानियाँ बच्चों की आकांक्षाओं का जीवनदायी स्रोत हैं। कहानियाँ बच्चों की बौद्धिक अनुभूतियों के प्रवाह को सक्रिय बनाती हैं। चिंतन के जीवंत द्वीपों को सुदृढ़ तारों से जोड़ती हैं, पर यदि कहानियों में बच्चों के विचार नहीं गुँथे हैं तो वे मरुभूमि के समान ही साबित होंगी। चित्रकला, संगीत, खेलकूद और कहानी की कक्षा से चलते हैं अब पढ़ना सीखने की ओर। यहाँ की सीखने की प्रक्रियाएँ रूखेपन की हर सीमा लाँघ जाती हैं। अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में सार्थक शब्दावली का अनवरत प्रयोग करनेवाले बच्चे स्वर और व्यंजन सीखने की यांत्रिक प्रक्रिया में 'पढ़ने' के प्रति अपनी हर तरह की रुचि गँवा बैठते हैं। वे इतना धैर्य नहीं रख पाते कि तीन-चार महीनों तक रटाया जाने वाला 'अ' अनार या 'ङ' खाली उन्हें पढ़ने की करिश्माई दुनिया की सैर कराएगा। पाठशाला में बोली जाने वाली भाषा भी कलात्मक अभिव्यक्तियों को उभरने नहीं देती। कहना न होगा कि बच्चों का अपनी भाषा में ही एक-दूसरे से बातें करने देना सीखने की प्रक्रिया को रोचक, सहज और सरल बनाएगा।

हम अध्यापकों को हर पल, हर क्षण यह ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों के रूप में हम प्रकृति की सबसे कोमल छटा का स्पर्श कर रहे हैं। हम उसके मस्तिष्क को ऐसा सजीव यंत्र ना समझें कि जो बस ज्ञान को 'पहचानने', याद करने और स्मृति में बनाए रखने के लिए तैयार किया गया है।

0- + 2015.indd 17 5/26/2017 9:14:52 AM